

आजीविका के प्रश्न से जूझती चित्रकला

- डॉ० कुमुद बाला

मनुष्य का भौतिक अस्तित्व आर्थिक संक्रियाओं पर निर्भर है। आज जबकि आत्मनिर्भरता प्रत्येक व्यक्ति के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है, आजीविका से संबंधित प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है। यह शोध आलेख चित्रकला में आजीविका की संभावनाओं और उनकी दशा-दिशा का सम्यक विवेचन प्रस्तुत करता है।

विषय संकेत:- चित्रकला, व्यावसायिक कला, कला आजीविका

वर्तमान परिदृश्य में, विधा कोई भी हो, आजीविका का प्रश्न किसी भी व्यक्ति या समाज की पहली प्राथमिकता है। आदर्शवादिता को किनारे कर दें तो व्यावहारिकता की कसौटी पर चित्रविधा कभी भी बहुत सहज एवं आजीविका का अनिवार्य माध्यम नहीं रही है। चित्रों का प्रयोग सौन्दर्य की दृष्टि से, प्रचार माध्यम की दृष्टि से तो प्रारम्भ से होता रहा है, परन्तु यह कटु सत्य है कि उसके माध्यम से जीवन निर्वहन एवं आवश्यकताओं की पूर्ति करना तुलनात्मक रूप से सरल नहीं रहा है। कमोवेश आज की स्थिति, विशेष रूप से उपभोक्तावादी परिदृश्य में और भी अधिक जटिल, दुरुह और विषमताओं से ग्रस्त होती जा रही है। समसामयिक परिदृश्य में यह प्रश्न और भी अधिक ज्वलंत हो चला है कि क्या चित्रविधा में चित्रकारों को सामान्य सामाजिक स्तरीय जीवन निर्वहन हेतु पर्याप्त अवसर हैं अथवा यह मात्रा सौन्दर्य रसपान का माध्यम बनकर ही रह जायेगी!

समस्त ऐतिहासिक एवं पौराणिक मान्यताओं को अंगीकार करते हुए भारतीय चित्रकला को वर्तमान स्वरूप में स्वीकार करना हमारी बाध्यता भी है और चुनौती भी। इस तथ्य को स्वीकार करने में कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि प्राचीन काल से लेकर आज तक चित्रकला किसी भी तरह से मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में सहयोगी नहीं रही हैं हालांकि यह तुलना हास्यास्पद है परन्तु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में तर्कसंगत हैं। प्रश्न यहीं से उठता है और वर्तमान चित्रकला में जीविकोपार्जन की समस्या का मूल भी यहीं से जुड़ा है। दैनिक व सामाजिक जीवन में चित्र 'सौन्दर्या भिव्यक्ति' एवं 'सौन्दर्यानुभूति' के अतिरिक्त अन्य कोई योगदान नहीं करते अतः चित्र और चित्रकार का आवश्यकतापूर्ति की दृष्टि से औचित्य बेहद क्षीण हो जाता है। और चित्रकार के लिए चित्रों के माध्यम से आजीविका चलाना इस स्तर पर बेहद कठिन हो जाता है।

विगत वर्षों में बढ़ती हुई उपभोक्तावादी संस्कृति से कला का क्षेत्र भी अछूता नहीं रहा है। देश के बड़े बड़े शहरों में नामचीन कलाकारों की कृतियों के करोड़ों में बिकने से कलाकारों के साथ साथ आम लोगों में भी यह संदेश पहुँचा कि कलाओं में बहुत पैसा है। फलस्वरूप चित्रविधा से जुड़े कलाकारों के साथ साथ अकुशल और तथाकथित स्वयंसिद्ध कलाकारों का बड़ा हुजूम इन शहरों की तरफ दौड़ पड़ा। चित्र किसी कृति से बढ़कर व्यावसायिक उपभोग की वस्तु बन गये। धीरे-धीरे स्थिति यह हो गयी कि दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले अन्य उत्पादों की तरह चित्र भी उत्पाद बन गये और चित्रकार उत्पादक। अन्तर्राष्ट्रीय नीलामी घर 'क्रिस्टी', 'सॉदबी' के साथ साथ भारतीय नीलामी घर 'ओसियान' व 'सैफ्रन आर्ट' के प्रवेश से चित्रों को व्यावसायिक क्षेत्र में स्थान मिलने लगा। मध्यस्थ भी सक्रिय हो गए। कला वीथिकाओं का दायरा बढ़ा, कलाकारों को मंच मिला। परन्तु वास्तव में यह स्थिति मरीचिका की तरह थी, क्योंकि कुछ नामचीन कलाकारों के साथ साथ सीमित वर्ग के कलाकार ही इस स्थिति का लाभ ले पा रहे थे। शेष सामान्य व अति सामान्य कलाकार बिरादरी इस लाभ से अभी भी वंचित थी, फलतः कलाकारों में निराशा एवं रोष उत्पन्न होने लगा, वे हताश होने लगे। उनके श्रम की तुलना में लाभ सीमित थे। जीवन निर्वहन सरल नहीं रह गया था। इस अवसाद की स्थिति में कलाकार पलायित होकर अपने शहरों व गांवों को लौटने लगे। उनके समक्ष वैकल्पिक रोजगार की तलाश के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह गया था।

दरअसल इस समस्या के मूल में स्वयं कलाकार ही हैं, उसकी सतही दृष्टि है, जो साधना और अभ्यास पर आधारित कला को पूर्ण व्यावसायिक बना बैठा। अल्प समय में कम परिश्रम से अधिक लाभार्जन के लोभ ने

उसे इस स्थिति तक पहुँचा दिया। साथ ही दोष इस व्यवस्था का भी है जहाँ रेवड़ियों की तरह उपाधियाँ बाँटी जा रही हैं। कुशलता व योग्यता कसौटी नहीं रह गये बल्कि 'जो बिके वही टिके' का मापदण्ड हावी हो गया है। इस विकृति से उबरने के लिए सामुहिक रूप से शिक्षण संस्थाओं, अकादमियों, कलाकारों, समीक्षकों एवं बुद्धि जीवियों को मिलकर सार्थक पहल करनी होगी, साथ ही यह भी उपाय करने होंगे कि कलाकार को आजीविका के साधन भी सुलभता से प्राप्त हो सके। इन परिस्थितियों में यह प्रासंगिक भी है और आवश्यक भी, कि देश के विश्वविद्यालय, कला महाविद्यालय और महाविद्यालय अपनी शिक्षा में उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभावों, दुष्प्रभावों के साथ साथ उसके संभावित खतरों के विषय में भी विद्यार्थियों को जागरूक करें और पाठ्यक्रमों में यथोचित संशोधन करें। साथ ही बाजार के दबावों से जूझने के लिए मानसिक, बौद्धिक एवं रचनात्मक ऊर्जा के समुचित उपयोग की शिक्षा भी दें, जिससे वे किसी भी परिस्थिति में स्वयं को सिद्ध कर सकें, स्थापित कर सकें।

इस विधा की एक समस्या इसमें प्रवेश करती हुई आधुनिक तकनीक भी है। यह सिद्ध है कि कला और विज्ञान का आपस में घनिष्ठ संबंध है, परन्तु चित्रविधा में विज्ञान की भाँति प्रयोग और अनुसंधान उसी संदर्भ में लाभकारी एवं संभव नहीं है जैसे कि अन्य माध्यमों में। वैज्ञानिक प्रयोग एवं अनुसंधान नयी संभावनाओं के साथ और भी उत्कृष्ट होते हुए जीवन को और भी आसान, सरल एवं समय की बचत के उद्देश्य से प्रेरित होते हैं। परन्तु इतिहास साक्षी है कि चित्रविधा में हो चुके और किये जा रहे प्रयोग कलाकार की व्यक्तिगत व्याकुलता और स्वयं की कृति को सबसे अनूठी सिद्ध करने के ध्येय से प्रेरित रहे। कुछ प्रयोगों ने तो सामान्य लोगों में कला के प्रति न केवल कटुता भर दी बल्कि इस विधा को हास्यास्पद रूप भी प्रदान कर दिया। इससे कला का भला तो नहीं हुआ, वह व्यंग का पात्र अलग से हो गयी। रही बात आधुनिक तकनीक के प्रवेश की, तो निःसंदेह प्रारम्भ में लगा कि कलाकारों को इसका लाभ मिलेगा परन्तु इससे वे ही कलाकार लाभान्वित हुए जिन्होंने तकनीकी दक्षता पर विशेष ध्यान दिया। मूलतः कलाकार का कौशल सदैव से लम्बे, गहन और सतत अभ्यास के साथ साथ समर्पण पर ही केन्द्रित रहा है, आधुनिक माध्यमों एवं उपकरणों का प्रयोग अनिवार्य आवश्यकता नहीं रही, रंग ब्रश और सृजनशीलता ही उसके उपकरण थे। वर्तमान समय में एक कम्प्यूटर की सहायता से कम समय में एक से अधिक चित्रों का निर्माण बिना किसी रंग, ब्रश व कैनवास के किया जा सकता है, परन्तु उसके लिए कम्प्यूटर का ज्ञान होना भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि कलाकार का व्यक्तिगत हस्त कौशल। अतः कला शिक्षा में समसामयिक समस्याओं को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम में तकनीकी ज्ञान का आवश्यक रूप से समावेश करना पहले से अधिक प्रासंगिक हो चला है।

उपरोक्त समस्याओं के मूल में कहीं न कहीं कला शिक्षा का अभाव, उसकी उपयोगिता आदि से जुड़े प्रश्न संदर्भित हैं। दरअसल आदिकाल से ही चित्रकर्म किसी भी कलाकार के लिए उसकी मौलिक रुचि, उत्कंठा और चित्रों से अगाध जुड़ाव का परिणाम होती थीं वही व्यक्ति चित्र बनाता था, जिसको उसमें विशेष रुचि होती थी और कलाकार स्वाध्याय से ही सिद्धहस्तता भी प्राप्त करते थे। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के आगमन के साथ विभिन्न कला महाविद्यालयों की स्थापना ने इसे विषय के रूप में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया। धीरे-धीरे इनकी संख्या में लगातार इजाफा हुआ। परन्तु दुर्भाग्यवश इस बढ़ोत्तरी का सीधा असर शिक्षा की गुणवत्ता पर पड़ा। यह दुःखद है कि वर्तमान कला शिक्षा बेहद संकीर्ण एवं ध्येय से विमुख होती दिख रही है। देश प्रदेश में स्थापित कुछ एक महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों को छोड़ दे तो तेजी से खुल रहे स्ववित्तपोषित महाविद्यालय न केवल एक विकृति को जन्म दे रहे हैं, बल्कि अकुशल विद्यार्थियों की बड़ी संख्या प्रतिवर्ष उत्पादित कर रहे हैं। इन विद्यार्थियों का ध्येय कला में सिद्धहस्त होने से ज्यादा स्नातक व परास्नातक होने पर है, जिससे वे शिक्षक बन सकें। स्पष्ट है कि इस जल्दबाजी एवं छटपटाहट का सीधा उद्देश्य रोजगार प्राप्त करने से जुड़ा है। आजीविका के लिए प्रयास करना कहीं से गलत भी नहीं है, परन्तु ऐसे अकुशल शिक्षक आगे और भी अकुशल विद्यार्थियों की फौज खड़ी करेंगे और चित्रकला अपने लक्ष्य से भटककर रोजगार प्राप्त करने का माध्यम बन कर रह जायेगी। स्वयं एक प्रतिष्ठित महाविद्यालय में कला अध्यापन से जुड़े होने के कारण यह मेरा व्यक्तिगत कटु अनुभव रहा है कि यहाँ प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों की तुलना में उपस्थिति का प्रतिशत बेहद

कम होता है परन्तु परिणाम शत प्रतिशत रहता हैं। कला शिक्षा हेतु किसी भी शिक्षण संस्थान में पर्याप्त आवश्यक सुविधाएँ एवं कुशल शिक्षकों का होना बेहद अनिवार्य आवश्यकता है। परन्तु यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि मानकों के विपरीत स्थापित ये संस्थाएँ आने वाले कला परिवेश के लिए ऐसी पृष्ठभूमि तैयार कर रहे हैं जो न तो छात्रों के हित में है और न ही कला समाज में।

अब यह बेहद आवश्यक हो चला है कि गंभीरता पूर्वक इन समस्त परिस्थितियों का आंकलन कर ऐसे कदम उठाए जायें जो इन विकृतियों से कला परिदृश्य को न केवल मुक्त कर सकें बल्कि उसे स्वस्थ मानसिकता के साथ रोजगार प्रदान करने के साधन के रूप में भी विकसित करें। निःसंदेह वर्तमान समय कठिन आर्थिक संकट का समय हैं। कलाकार ही नहीं वरन् समाज का प्रत्येक घटक अपनी आजीविका के जद्दोजहद में लगा हैं। इस कठिन दौर से उबरने के लिए मूलभूत सुधारों पर ध्यान देना पहले से ज्यादा प्रासंगिक हो गया हैं। चित्रकला को दायम दर्जे का विषय न मानकर प्रारम्भिक शिक्षा से ही उसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता समझनी होगी। रूचि के अनुरूप कलात्मक अभिरूचि के विद्यार्थियों को अन्य विषयों के समान गंभीरता से शिक्षित करना होगा। प्रत्येक स्तर की शिक्षा व्यवस्था में रोजगारपरक दृष्टि केन्द्रित कर पाठ्यक्रम में आमूलचूल परिवर्तन करने होंगे। पूर्ण संवेदनशीलता के साथ इसे विषय के रूप में महत्वपूर्ण पायदान पर रखना होगा। कला व कलाकार की रचनात्मक संतुष्टि के साथ साथ जीवन से जुड़ी अन्य बाध्यताएँ एवं दायित्वों का निर्वहन भी उसके लिए आवश्यक है अतः शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो रोजगारपरक भी हो।

वैश्विक परिवेश के परिवर्तनों एवं वर्तमान चुनौतियों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने के साथ उनसे जूझने एवं उबरने की शिक्षा भी देनी होगी। शिक्षा की गुणवत्ता बनाये रखने हेतु नियामकों का गठन कर इस भेड़चाल को रोकने की कवायद करनी होगी। नियमों एवं पाठ्यक्रमों में बदलावों के साथ उनके अनुपालन एवं क्रियान्वयन पर विशेष ध्यान देना होगा। कलाकार की सृजनात्मक शक्ति को व्यावसायिक लाभ का सार्थक साधन बनाना होगा। सामूहिक रूप से दूरदर्शिता का परिचय देकर समस्याओं का समाधान तलाशना वर्तमान समय में न केवल आवश्यक है बल्कि प्रासंगिक भी है। यदि इस व्यवस्था से जुड़ा प्रत्येक घटक पूर्ण ईमानदारी के साथ अपनी भूमिका का निर्वहन करें तो अन्य किसी भी माध्यम के समान चित्रकला भी उपयोगी एवं जीविकोपार्जन का माध्यम सिद्ध होगी।

सन्दर्भ:-

- 1- रामविरंजन का आलेख, समकालीन कला, प्रकाशक कला अर्द्धवार्षिकी, पृ0-13
- 2- शुक्ल, रामचन्द्र, 'कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ', प्रकाशक, ललित कला अकादमी, नई दिल्ली, पृ0-161
- 3- कला दीर्घ, अक्टूबर 2002, अंक 5, पृ0-11
- 4- राय, निहार रंजन, 'भारतीय कला के आयाम' प्रकाशक, ललित कला अकादमी, नई दिल्ली, पृ0-54
- 5- समकालीन कला, अंक जून-सितम्बर 2002, पृ0-49
- 6- नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, जून 2011, पृ0-01
- 7- शोध निधि, इंदौर, जुलाई-सितम्बर 2009, पृ0-69
- 8- दैनिक भास्कर, इंदौर 2008 पृ0-17